

16. दलित साहित्य : प्रामाणिक चेतना की प्रतीति

आजकल दलित साहित्य बहुचर्चित विषय हो चुका है। अलग-अलग दृष्टिकोणों से इस आंदोलन पर विचार किया गया है। कलात्मक संभावनाओं की दृष्टि से इस आंदोलन की ओर देखने का यह एक प्रयत्न है।

दलित साहित्य का आंदोलन उचित है या अनुचित, यह निश्चित करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि वह अचानक क्यों उत्पन्न हुआ? इस प्रश्न को लेकर दलित लेखक आज बड़ी आत्मीयता से लेखन कर रहे हैं। पहले 'दलित' संबोधन से इन लेखकों को गुस्सा आ गया होता, लेकिन आज यह स्थिति नहीं रही। आज आग्रहपूर्वक वे अपने को दलित संबोधित कर अपनी पृथकता स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस आंदोलन के समर्थक स्वयं लेखक, उपन्यासकार एवं कवि हैं, प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति हैं। ये सारे कलाकार अपनी पृथकता आज आग्रहपूर्वक क्यों बता रहे हैं? अपने दलितत्व का उच्चारण अभिमान से क्यों कर रहे हैं? पहले इस घटना का अर्थ खोजना आवश्यक है।

'कानून से अस्पृश्यता दूर हो गई। छात्रवृत्तियाँ एवं नौकरियाँ मिलने लगीं। आर्थिक दृष्टि से उन्नति हो गयी और हो रही है, फिर भी अस्पृश्यता के नाम से शोर मचाया जाता है, इसका मतलब क्या है?' कई लोग इस तरह का प्रश्न करते हैं। कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि इस प्रकार शोर मचाने के पीछे कुछ धूर्त दांव होगा।

इस प्रश्न पर सम्पूर्ण विचार करना यहाँ असंभव है, फिर भी सारांश में कुछ ठोस बातें बताई जा सकती हैं। हम समझते हैं कि, अस्पृश्यता खत्म हो गयी है किंतु यदि हम गत पाँच वर्षों के समाचार-पत्रों के पन्ने केवल उलट ही दें तो पता चलेगा कि अस्पृश्यता का प्रश्न समाप्त नहीं हुआ है। अस्पृश्यों पर होने वाले अत्याचारों की संख्या देहातों में कई गुना बढ़ गई है। देहातों में होने वाले अत्याचार मुख्यतः भूमि-प्रश्नों से संबंधित हैं। उच्चवर्णीय जमीन-मालिकों तथा निम्न-वर्णीय भूमिहीन किसानों के बीच संघर्ष अत्यन्त क्रूर स्वरूप ग्रहण करता है। आर्थिक हित-संबंधों के साथ-साथ वर्ण श्रेष्ठत्व के अभिमान से बदले की भावना अधिक ही प्रज्वलित हो उठती है और भयानक अत्याचार होते हैं। बार-बार अग्निकांड और हिंसा की खबरें सुनाई देती हैं,

इसके पीछे भी यही कारण है। अंधश्रद्धा तथा केवल वर्णश्रेष्ठत्व के अभिमान से भी अत्याचार होते रहते हैं। महाराष्ट्र के शहरों में अब दलित वर्ग कुछ अंशों में सुशिक्षित हो गया है। बड़े पैमाने पर वह मध्यवर्ग में शामिल हो रहा है। इसी कारण पुराने सफेदपोश वर्ग से मानसिक स्तर पर उसका संघर्ष अनिवार्य हो रहा है। छात्रवृत्तियों एवं आरक्षित स्थानों के कारण उसे सुस्थिति नसीब हुई है, यह सच है। किंतु कोई यह मत समझे कि ये सुविधाएं उसे पुराने सफेदपोश वर्ग की उदारता से मिली है। ये सुविधाएं राष्ट्रीय आंदोलन और विशेषतः इस वर्ग के कार्यक्षम नेता ने ही उन्हें प्राप्त करा दी है, अर्थात् उन्होंने खुद ही उन्हें हासिल किया है। इसका परिणाम जो होना था, वही हो रहा है। इस वर्ग की बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्षमता के विकास एवं भौतिक उत्कर्ष के कारण मनुष्य के नाते उनकी अपेक्षाएं स्वाभाविक रूप में बढ़ गयी हैं। यह सच है कि कानून उनके पक्ष में है। और समाज है कि इस बात में उनका दलितत्व भूलने के लिए तैयार नहीं है। संघर्ष के मूल कारण वैसे आर्थिक होते हैं किंतु उनकी अभिव्यक्ति जातीय स्तर पर होती है। इसका मतलब यह नहीं कि सभी लोग जातीयता की दृष्टि से विचार करने वाले होते हैं। ऐसे भी कई लोग होते हैं जिनके मन को यह विचार छूता तक नहीं किंतु केवल इसी से सर्वसाधारण वस्तुस्थिति में परिवर्तन नहीं होता। विकसित एवं सजग संवेदनशीलता के कारण इस वर्ग को समाज में अपनी अस्पृश्यता का हीन स्वरूप साफ-साफ दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। स्वतंत्रता प्राप्ति को को आज तीन दशक व्यतीत हो गए। इस दौरान स्वतंत्र भारत के नये माहौल में पनपी केवल एक ही पीढ़ी आगे आई है। इसमें आश्चर्य क्या है कि इसी पीढ़ी को उसकी विकास-प्रक्रिया में ही दलित-जीवन का अर्थ स्पष्ट एवं समग्र सामाजिक अर्थों सहित प्रतीत हो जाए?

थोड़ा अधिक सोचने पर एक और बात ध्यान में आती है। उन्नीसवीं सदी में जो सामाजिक जागरण का, सामाजिक क्रांति का कार्य भारत में प्रारंभ हुआ था, वह स्थगित हो चुका था। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के मूल्य ने ही समाज जीवन में प्रमुख स्थान हासिल कर लिया था। स्वातंत्र्योत्तर काल में यही प्रक्रिया फिर अलग-अलग स्तरों पर शुरू हो गयी हो तो उसमें आश्चर्य नहीं। आर्थिक शक्ति के प्राप्त होने पर इन वर्गों ने अपने-आप अब तक का स्थगित कार्य हाथ में लिया। यह ऐतिहासिक प्रक्रिया अटल है। सामाजिक-आर्थिक आंदोलन पहले और बाद में राजनैतिक आंदोलन यह क्रम योरोप में रहा। मगर भारत में पराधीनता के कारण राजनैतिक स्वातंत्र्य के पश्चात् जागरण का कार्य गतिमान हो रहा है। भारतीय मार्क्सवाद ने आरंभ से ही

आमूल सामाजिक परिवर्तन का चित्र उभारा अवश्य परंतु पूंजीवादी अर्थरचना से निर्मित वर्गविषमता की लड़ाइयाँ ही लड़ी गयीं। इस क्षेत्र में उन्होंने निश्चय ही बहुत बड़ा कार्य किया। परंतु जिस समाज में क्रांति लानी है उसके संपूर्ण स्वरूप को बिना जाने क्रांति का विचार व्यर्थ हो जाता है। असल में मार्क्सवादियों ने भारत के चातुर्वर्ण्य-विशिष्ट स्वरूप की ओर ध्यान ही नहीं दिया। अगर ऐसा होता तो यहाँ भारतीय परिस्थिति के अनुरूप मार्क्सवाद का सर्जनशील एवं अनोखा विकास होता। इस सर्जनात्मक कार्य को जाने-अनजाने टाल दिए जाने से ही मार्क्सवाद केवल आर्थिक मोर्चे पर ही काम कर सका। मार्क्सवाद को भारत में तीन कार्य करने थे :

1. किसानों एवं मजदूरों की लड़ाइयाँ लड़ना।
2. स्वतंत्रता आंदोलन में अन्य वर्गों के साथ सम्मिलित होना।
3. दुलमुल स्तर पर चल रहे सामाजिक जागरण की प्रक्रिया को अधिक व्यापक, गहन एवं तेज करना।

इन तीन कार्यों को एक ही सुव्यवस्थित नीति में पिरोकर तदनुसार क्रांति के साधनों को सिद्ध करने का कार्य भारतीय मार्क्सवादियों के सामने था। इनमें से पहले कार्य को मार्क्सवादियों ने महत्त्वपूर्ण समझा। स्वतंत्रता-आंदोलन में सम्मिलित होकर भी दूसरे कार्य के बारे में वे उचित निर्णय नहीं कर सके। तीसरे कार्य की ओर वैचारिक स्तर पर वे ध्यान नहीं दे सके। यह काम भी कुछ मामूली नहीं था। मार्क्सवादियों में अतुल त्याग, महान बुद्धिमत्ता आदि गुणों के होते हुए भी वे यह काम नहीं कर सके। इसके लिए असामान्य, सर्वगामी प्रतिभा की ही आवश्यकता थी। कलाक्षेत्र में तो मार्क्सवादी विचार अत्यंत सतही रहा। मार्क्सवादियों ने लेखकों को एक विषय देकर मानो आर्थिक संघर्षों पर ही उनका सारा ध्यान केंद्रीभूत किया, जिससे भारतीय निम्नवर्ग के जीवन का यथार्थ एवं स्वयंस्फूर्त उद्गार शब्दरूप नहीं ले सका। न ही उच्च स्तर का प्रगतिशील साहित्य निर्मित हो सका। मार्क्सवाद इतिहास को गतिमान नहीं बना सका, बल्कि इतिहास ने ही मार्क्सवाद को ठेलकर आगे बढ़ाया।

सारांश, केवल महाराष्ट्र के विषय में ही बात कहनी हो तो वह यह है कि यह प्रभावशाली लेखकों तथा कवियों द्वारा स्वयंप्रेरणा से चलाया हुआ आंदोलन है, यह सर्जनशीलों का आंदोलन है।

यह भी दिखता है कि अन्य वर्गीय लेखकों की प्रतीतियों से दलित लेखकों की प्रतीतियों का स्वरूप कुछ भिन्न है। दलित लेखकों का स्थान अन्य लेखकों की अपेक्षा अलग दृष्टिगोचर होता है। उनका परिप्रेक्ष्य अलग है। वर्तमान तथा अतीत से उनका संबंध भिन्न है। पुरातन धर्मग्रंथों, पुराणों, काव्यों से अर्थात् संस्कृति से ही उनका संबंध भिन्न है। उन्हें उनका अपना दुःख-अन्यों से अलग प्रतीत होना निस्संदेह स्वाभाविक है। जीवन के साथ अपने संबंधों का इतनी स्पष्टता से अनुभव के सार पर बोध होना सर्जनशीलों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। उसके कलात्मक रूप का भान बाद की मंजिल है।

क्या दलित कलाकारों की यह भावना संकुचित नहीं है? क्या समाजवादी युग में यह प्रतिगामी रुख नहीं है? इस तरह के प्रश्न उठाये जा सकते हैं। वर्णाश्रम जिस सामंतशाही के आधार से स्थित था वह नष्ट हो चुकी है। ऐसा सोचा जा सकता है कि जातीयता का मूलाधार नष्ट होने के बाद उसका उच्चारण अब आगामी विकास के लिए घातक सिद्ध होगा। इस संदर्भ में एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। भौतिक तथा मानसिक परिवर्तनों की गति एक-सी नहीं होती। यह सही है कि भौतिक परिस्थिति के नष्ट होने के बाद उस पर आधारित मानसिकता भी नष्ट होती है। किंतु यह ध्यान में रखना होगा कि वह अत्यंत धीमी गति से अलग-अलग रूप धारण कर जोरदार आंदोलन करते हुए ही नष्ट होती है। सामंतशाही के नष्ट होने पर उस पर आधारित सामंती मानसिकता भी तुरंत नष्ट हो जाएगी, यह नहीं कह सकते। शुद्ध मानवता की भूमिका पर भी उसके विरुद्ध संघर्ष करना आवश्यक है और इसीलिए यह आंदोलन जागरण का आंदोलन है, यह मैंने पहले ही कह दिया है। इस संदर्भ में इस आंदोलन का एक वैशिष्ट्य दर्ज करना आवश्यक है। वह यह कि दलित आंदोलन की यह चेतना मूल्यगर्भ चेतना है। दलित आंदोलन के समर्थकों ने बार-बार यह बताया है कि उनके लेखन की प्रेरणा जाति-द्वेष नहीं है और इस बात पर जरूर विश्वास रखना चाहिए। इसीलिए इस आंदोलन को प्रेरणा देने वाले मूल्यों का उल्लेख प्रतिभाशाली दलित लेखक के ही शब्दों में करना उचित होगा- "दलित साहित्य मनुष्य को केंद्र बनाता है, मनुष्य को महानता प्रदान करता है। मानवी स्वातंत्र्य का जी जान से उद्घोष करता है।" (बाबूराव बागूल - अध्यक्षीय भाषण, दूसरा महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य-सम्मेलन, महाड़) इसी भाषण में श्री बाबूराव बागूल आगे कहते हैं - "मनुष्य प्रकृति का एक नन्हा-सा रूप है। प्रकृति निरंतर गतिशील और सर्जनशील होनी चाहिए।"

इस प्रकार दलित साहित्य की चेतना मूल्यगर्भ चेतना है। 'स्वातंत्र्य' दलित-साहित्य की चेतना का मूल है। इसीलिए दलित-साहित्य चेतना और प्रगतिशील लेखकों की चेतना भिन्न मूल्याधिष्ठित नहीं विरोधी नहीं; इसको ध्यान में रखना चाहिए।

इस तरह हमने देखा कि दलित लेखकों की चेतना- (1) अन्य लेखकों की अपेक्षा भिन्न और इसीलिए वैशिष्ट्यपूर्ण है। (2) और, यह संकुचित न होकर मूल्यगर्भ चेतना है।

इस चेतना के संदर्भ में अतिव्यक्तिवादी कला की चेतना का विचार किया जाए तो क्या दिखाई देता है ? वास्तव में अतिव्यक्तिवाद व्यक्ति के विविध गुण वैशिष्ट्यों के परे जाता है। विशिष्ट मानसिकता के रूप में ही वह शेष रहता है। यह अकेलापन तथा असहायता की मानसिकता होती है। मूल प्रेरणा तथा विश्व के यांत्रिक नियमों के कारण यह असहायता अनुभव होती है। विश्व की निरर्थकता, भयाकुल अस्तित्वानुभव, इस मानसिकता के महत्वपूर्ण अंग हैं। विश्व अर्थपूर्ण हो या निरर्थक किंतु जीवन की निरर्थकता के अहसास से ही यह साहित्य जन्मा है, इसमें कुछ संदेह नहीं। मराठी जीवन में मध्यवर्ग की विशिष्ट स्थिति में ही इस प्रकार का साहित्य सामने आया है। मगर इस स्थान पर सार्त्र के एक कथन का आग्रहपूर्वक उल्लेख करने की इच्छा होती है। **What is literature** में सार्त्र कहते हैं कि अतिव्यक्तिवादी की चेतना प्रयत्नशील वर्ग की विनाशकारी चेतना है, यह सच है परंतु उसी के माध्यम से एक शाश्वत मानवी स्थिति (**Human Condition**) का दर्शन भी संभव है। जब ऐसा होता है तब निःसंदेह वह श्रेष्ठ कला हो सकती है, इस बात से मैं सहमत हूँ। परंतु इस स्थिति में लेखक को परिस्थिति का गर्भितार्थ पहचानने वाला तटस्थ निरीक्षक भी होना पड़ता है, अर्थात् लेखक उस माहौल से बाहर जाता है, यह ध्यान में रखना आवश्यक है। साहित्य धारा की दृष्टि से देखें, तो आमतौर पर सामाजिकता का विरोध इस प्रकार के साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। दलित साहित्य की चेतना इस धारा के खिलाफ दिखाई देती है। एक असहायता की चेतना है तो दूसरी स्वातंत्र्य की चेतना। एक वर्गतः विकास की संपूर्ण संभावनाएं गंवाकर बैठे व्यक्तियों की चेतना है, तो दूसरी वर्गतः विकास की सभी संभावनाओं से युक्त लोगों की। निस्संदेह दलित साहित्य का आंदोलन इस संदर्भ में विशेष अर्थपूर्ण है। दलित लेखकों की चेतना, वास्तविक मानवी स्वातंत्र्य को अभिव्यक्त कर सकी तो इस प्रतीति के माध्यम से महान साहित्य निर्मित होने की संभावना निस्संदिग्ध है।

दलित साहित्य की प्रतीति सर्जनशीलों की प्रतीति है, इस बात को ध्यान में न लेने के कारण यह आपत्ति उठाई जाती है कि अपनी खिचड़ी अलग पकाकर दलित साहित्य क्या हासिल कर सकता है? कलात्मकता की कसौटी पर जो खरा उतरे, वही सही साहित्य है। वह दलित न हो तो भी श्रेष्ठ है। इस कसौटी पर जो खरा न उतरे, वह साहित्य, फिर वह किसी भी वर्ग का क्यों न हो, घटिया ही है। अतः कला की दृष्टि से देखें तो दलित साहित्य का आंदोलन अर्थहीन है।

सरसरी निगाह से देखें तो यह आपत्ति अकारण नहीं लगती है। किंतु विशिष्ट संदर्भ में ऐसा नहीं है। उपर्युक्त आपत्ति के समय कुछ बातें गृहीत मान ली गई हैं - (1) कला की कसौटियाँ स्थायी होती हैं। (2) सर्जनशीलों की भाषा तथा कला का मूल्यांकन करने वालों की भाषा एक ही होती है। ये दोनों धारणाएँ उचित नहीं लगती।

'कला की कसौटियाँ स्थायी होती हैं और निश्चित कसौटियों पर साहित्य को परख लें, तो प्रश्न खत्म होता है' असल में यह इतनी सरल बात नहीं है। कला की बात करने पर भी प्रश्न उठता है कि ये कसौटियाँ कौन-सी हैं? 'कला' संज्ञा द्वारा दर्शायी जाने वाली बातें इतनी विविध स्वरूपी एवं विविध अंगों से रूपायित होने वाली होती हैं कि 'कला' की संज्ञा को निश्चित रूप में परिभाषित करना लगभग असंभव मालूम होता है। 'कला' की संकल्पना ही अस्थिर एवं परिवर्तनशील है। कला का स्वरूप असीम होता है। अतः उसकी निश्चित कसौटी बनाना कठिन हो जाता है।

कला का इतिहास देखें तो यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न कसौटियाँ लागू की जाती रहीं। साहित्य शास्त्र की कसौटियाँ आधुनिक साहित्य पर लागू नहीं हो सकी। इनमें त्रुटि महसूस हो रही है। स्वच्छन्दतावाद कला अपनी ही कुछ कसौटियाँ ले आयी, अब स्वच्छन्दतावाद के अस्त होते ही फिर से ये कसौटियाँ बदल गयीं दिखती हैं। जब-जब नयी चेतना से नया साहित्य सामने आया तब-तब रूढ़ कला के समर्थकों ने उसे कला कहने से इन्कार कर दिया। चित्रकारी का इतिहास इस दृष्टि से अत्यंत उद्बोधक है। सारांश, 'कला की कसौटियों पर खरा उतरना चाहिए।' यह कहना संगत नहीं। तात्विक-सौंदर्य शास्त्र तत्वज्ञान के बदलते स्वरूप के साथ बदलता रहता है। मर्देकरजी का 'लय' तत्व कला की कसौटी है या अवश्योपाधि है, यह अभी निश्चित नहीं हो सका है।

सोचने की बात यह है कि, असल में इस तरह की आपत्ति करना ही गलत है। यहाँ कुछ आकलन की गड़बड़ी हो गई है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि दलित साहित्य का आंदोलन दलित लेखकों, साहित्य निर्माताओं तथा सर्जनशील कलाकारों का आंदोलन है। कला की कसौटियों को सामने रखकर कलाकार नहीं बोलते। कलाकार की, विशेषतः साहित्यकार की, दृष्टि यह नहीं होती कि हम एक 'सुंदर' आकृति निर्मित करने वाले हैं। लयबद्ध लेखन करने का निश्चय कर मर्दकरजी ने कविता-लेखन हर्गिज नहीं किया होगा। निश्चित ही अपनी चेतना और उससे निर्मित अनुभवों को मूर्तिमान करने के लिए ही उन्होंने कविता लेखन किया होगा। अपने अनुभवों को कलात्मक स्तर पर उन्होंने जान लिया, अर्थात् व्यक्तिगत रूप में प्रतीत हुए विशिष्ट अनुभवों का संकुचित स्वरूप नष्ट कर उन्हें व्यापक गर्भितार्थों सहित प्रतीत करा लिया। मतलब यह है कि व्यक्तिनिरपेक्ष, अत्यंत विशुद्ध जीवनानुभव जब रूपायित होने लगता है, तब वही कलात्मक अनुभव बन जाता है। कला की कसौटियाँ कुछ भी हों, सर्जनशील रचयिताओं को अपनी प्रतीतियों के प्रति विशेष लगाव रहता है। दलित लेखकों की भूमिका सर्जनशीलों की भूमिका है। उनमें अपनी चेतना के प्रति आस्था है। ये प्रतीतियाँ सुगठित एवं मूल्यगर्भा हैं। इसीलिए अपने अनुभवों को विशुद्ध जीवनानुभव के स्तर पर अर्थात् कलात्मक स्तर पर ले आना उनके लिए अधिक संभव बन जाता है। कलाकारों के संदर्भ में कलात्मक स्तर पर प्रतीत हुआ अनुभव, काव्य मर्मज्ञों के संदर्भ में मूर्तिमान जीवनानुभव अर्थात् मानवी अनुभव बन जाता है। सामाजिक स्तर पर उसे वह अनुभव आस्वाद्य लगता है, वैयक्तिक स्तर पर नहीं। असल बात यह है कि यह आंदोलन सर्जनशीलों का है। इस बात की ओर ध्यान दें कि अपनी जीवनानुभूति के प्रति आस्था होना सर्जनशीलों का धर्म ही है। इसी से उसको अभिव्यक्त करते-करते कितने ही कलाकारों की पूरी जिन्दगी धूल में मिल चुकी है। प्रतीतियों के अंतर्गत संघर्ष उत्पन्न होते हैं और जी जान से मुकाबले होते हैं। अगर सर्जनशीलों का ध्येय केवल 'सौंदर्य-निर्मिति' ही होता तो ये कवि सौ-सौ सालों से, अत्यन्त शांति से एक कतार में कुर्रियों पर बैठकर मिलजुलकर कविता लेखन में लगे दिखाई देते और चित्रकार एक-दूसरे की ओर देखकर मंद हास्य करते हुए चित्रकारी करने में लगे दिखाई देते। किंतु ऐसा कुछ नहीं होता। नयी-पुरानी प्रतीतियों के अंतर्गत संघर्ष चलता है और कलाक्षेत्र में भी उसे लड़ाया जाता है। इसीलिए अपनी बात तीव्रता से प्रकट करना कलाकार की भूमिका के रूप में उचित ही है।

बाह्य तथा अंतरंग जीवन की असंगति की प्रतीति दलित लेखकों की चेतना जगा देती है। यह चेतना मूल्यगर्भ एवं प्रामाणिक है। यह भी हो सकता है कि असली भारतीय जीवन का समर्थ चित्र शायद उससे कुरेदा जा सके। वह भारतीय मानवता का एक स्तर पर व्यक्त होने वाला उद्गार है। यह चेतना प्रगतिशीलता का विरोध नहीं करती बल्कि उसका ही एक स्वतंत्र उन्मेष बन जाती है।

- अनुवाद : श्रीमती सुनीता नाडगीर

उनके (हरिजनों) लिए मंदिरों के द्वार खोलने के लिए प्रचार करने में हमें समय नहीं खोना चाहिए। यह काम केवल व्यर्थ ही नहीं बल्कि खुद हरिजनों के लिए भी खतरनाक है। इन पुरोहितों की चालाकी और धर्मान्धता ही है जो कि उनकी वर्तमान अधोगति का कारण है। अगर आपके सामने अपने देश और अपने लिए कोई उच्च आदर्श है, तो उनकी आर्थिक विषमताओं का अध्ययन कीजिए और उनको दूर करने की चेष्टा कीजिए।

(राहुल सांकृत्यायन, दिमागी गुलामी, पृ. 86-87)